International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 27-07-2021, Accepted: 13-08-2021, Published: 30-08-2021
Volume 7, Issue 4, 2021, Page No. 158-161

योग में चित्त शुद्धि

हर्षवर्धन गोस्वामी
एसोसिएट प्रोफेसर, एम.एम.एच कालेज, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
चित्त प्रकृति का सात्विक परिणाम है प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होते हुए भी इसकी रचना में सब की प्रधानता होती है। अतः यह प्रकृति का प्रथम सात्विक परिणाम माना जाता है। चित्त का स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता है। जब तक चित्त का स्वरूप न जान लिया जाये। सांख्य और योगमत में चित्त् चिति, चैतन्य पुरूष और आत्मा ये सब पर्यायवाचक शब्द है। चित् अपने आप में अपरिणामी, कूटस्थ और निष्क्रिय है, इसी चित् अथवा पुरूष तत्व को योग और मोक्ष प्राप्त करने के लिये इसके साथ प्रकृति का संयोग होता है। प्रकृति का प्रथम परिणाम रूप बुद्धि या चित्त तत्व ही योग और मोक्ष का प्रयोजन सिद्ध करता है।

मूल शब्दः त्रिगुण, चैतन्य, पुरूष, आत्मा, योग और मोक्ष

प्रस्तावना

महिला सशक्तिकरण का अर्थ

समाधि चित्त की एक विशिष्ट सूक्ष्म अवस्था है। जिसके द्वारा ध्येय विषय का विश्लेषण होकर उसकें सूक्ष्म अज्ञात स्वरूप का संदेह, संशय विकल्प आदि रहित स्पष्ट यथार्थ साक्षात्कार होता है। समाधि के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार रूपी विशेष ज्ञान मोक्ष का साधन होता है।

चित्त के भेद–

1. प्रख्याशील चित्त

इसके अंतर्गत 'सत्व' प्रधानचित्त रजस् और 'तमस्' से संयुक्त रहता है। ऐसा चित्त अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। तमोगुण से आवृत्त रहने से इसमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रहता है।

2. प्रवृत्तिशील चित्त

तमस् के क्षीण होने पर और केवल रजस से युक्त होने पर यही चित्त सर्वत्र प्रकाशमान होता है। और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है।

3. स्थितिशील चित्त

रजस् का लय होने पर 'सत्वप्रधान' चित्त अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हों जाता है और उसे विवेक बुद्धि प्राप्त हो जाती है।

वृत्ति का स्वरूप

चित्त का रूपान्तरण ही वृत्ति है। चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल तत्व है। उसका अपना कोई आकार नहीं होता। जिस विषय के संपर्क में वह जाता है, उसी के आकार को धारण कर लेता है। यह विषयकारता ही वृत्ति कहलाती है। चित्त को एक नदी ही समझो। जैसे नदी का जल वायु के वेग से प्रकम्पित होकर असंख्य तरंगों के आकार में परिणत हो जाता है। उन तरंगों में फिर गमनादि क्रिया होती है। गमन क्रिया होने पर तरंगे, इधर–उधर भ्रमण करने लगती है; गर्तादि में जाकर गर्ताकार को धारण कर लेती है। जब वायु की गति शांत हो जाती है तो वे तरंगे अपने प्रवाह में लीन हो जाती है। इसी प्रकार चित्तरूपी नदी में भी विषयज्ञान से जनित संस्कार रूपी पवन की प्रेरणा से अनेक प्रकार की क्षोभरूप तरंगे उठा करती है। तथा वे तरंगे चक्षुरादि इन्द्रियों से बाहर निकलकर बाहय घटादि विषयों के आधार कर लेती है। जब कभी बर्हिर्मुख नहीं हो पाती तो स्वकारण चित्त में भी काम क्रोध, मोह, राग, द्वेषादि रूप से परिणत होती रहती है। चित्त के इसी विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते है।

चित्त की अवस्थाएं

साधक की जीवनयात्रा में चित्त जिन जिन स्तरों पर कार्य करता है। अथवा जिन–जिन अवस्थाओं में कार्य कर सकता है उन अवस्थाओं को चित्त की भूमि कहा जाता है। ये भूमियां पांच है–

1. क्षिप्त

सत्वगुण की न्यूनता तथा रज और तम–प्रधान मात्र स्वार्थ की तथा अत्यंत चंचल वृत्ति होने से वह चित्त की क्षिप्त भूमि (अवस्था) होती है। कभी इस विषय में और कभी उस विषय में भ्रमण करते हुए चित्त निरंतर अस्थिर बना रहता है। धन, बल तथा यौवन के मद से मत्त मनुष्य दैत्य, दानवादि का चित्त प्रायः क्षिप्त ही होता है। विषयासक्त पुरूषों का नितांत अस्थिर चित्त क्षिप्त कहलाता है। इसमें रजोगुण की अधिकता होती है।

2. मूढ़

सत्व और रजोगुण की न्यूनता तथा तमोगुण से युक्त होकर पूर्वा पर हानि–लाभ के विचार से रहित अपने तुच्छ योग के लिए परपीड़न और हिंसा परायण काम–क्रोधादि दुराचार से परिपूर्ण वृत्तिवाली होने से वह मूढ़ चित्त वाली भूमि कहा जाता है। ऐसा चित्त राक्षस् पिशाचादि का तथा मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले पुरूषों का होता है। क्षिप्त की तुलना में मूढ़ चित्त कुछ श्रेष्ठ होता है। क्योंकि इसमें अस्थिरता कुछ कम होती है।

3. विक्षिप्त

सत्वगुण की वृद्धि से किसी–किसी समय स्थिरता को प्राप्त होनेवाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है। कभी–कभी प्रियजन की मृत्यु से अथवा शोक के आघात् से चित्त ईश्वर भक्ति की दिशा में चल पड़ता है। किन्तु विषयों के आकर्षण में चंचलित होकर पुनः उस मार्ग को छोड़ देता है। ऐसा क्रम जीवन में कभी–कभी घटीत होता है। यह चित्त क्षिप्त और मूढ़ से कुछ श्रेष्ठ होता है। ऐसा चित्त प्रायः देवताओं का तथा प्रथम बार योग भूमिका पर आरूढ़ योग जिज्ञासुओं का होता है।

4. एकाग्र

जब वह चित्त सत्वगुण को प्रधानता से ओत–प्रोत रहते हुए किसी एक विषय में या निज–स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब उसे एकाग्र भूमि कहा जाता है। बाहय वृत्तियों जब पूर्ण रूप से निरूद्ध हो जाती है और ध्येयाकार एक आभ्यन्तर वृत्ति ही शेष रहती है ऐसा चित एकाग्र कहलाता है। ऐसा चित्त प्रथम कक्षा में योगियों का होता है।

5. निरूद्ध

निरंतर अभ्यास से जब योगी को उस ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। तथा जिसमें केवल संस्कार ही शेष रहतु है, ऐसा चित्त निरूद्ध कहलाता है। ऐसा चित्त सिद्ध योगीयों का होता है। यह योगी के चित्त की अंतिम भूमि है, जहां पहुँचकर चित्त कृतकार्य हो जाता है।

चित्तविक्षेप–

''विक्षिपन्ति योग्रात् अपनयन्ति इति विक्षेपाः।''

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो तत्व चित्त को विक्षिप्त कर एकाग्रता को भंग कर देते है वह चित्तविक्षेप कहलाते है।

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्या विरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वा नवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः।(1/30)

अर्थात्, व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलेब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व यह नौ अंतराय है–

1. **व्याधि–** धातु रस और इन्द्रियों की विषमता से उत्पन्न हुए ज्वरादि को व्याधि या रोग कहते है।
2. **स्त्यान–** इच्छा होने पर कार्य करने की क्षमता का न होना स्त्यान कहलाता है। यह मन की विशिष्ट प्रकार की दुर्बलता है। अतः आलस्य का मानसिक पक्ष स्त्यान है। स्त्यान के कारण चित्त से योगाभ्यास संभव न होने से यह अंतराय है।
3. **संशय–** मै योगाभ्यास कर सकूंगा या नहीं? यह योग साध्य है या असाध्य? इस प्रकार के व्दन्व्दात्मक ज्ञान को संशय कहते है।
4. **प्रमाद–** जानते हुए भी अहितकर कार्य करने की प्रवृत्ति अर्थात अभ्यास आवश्यक है यह समझते हुए भी योगाभ्यास न करना प्रमाद है। अपने ध्येय के प्रति सतत् जागरूक रहकर अभ्यास करने से ये अन्तराय दूर होते है।
5. **आलस्य–** शारीरिक या मानसिक रूप से भारीपन का अनुभव करना जिससे कार्य करने की प्रवृत्ति हो न हो वह आलस्य है।
6. **अविरति–** इसका अर्थ है बेचैनी। विषयों में आकर्षण होने से चित्त रहा करता है। जिससे अविरति की स्थिति उत्पन्न होती है।
7. **भ्रांति दर्शन–** किसी अन्य दर्शन ग्रंथ को पढ़कर उसके अनुसार योगदर्शन को समझने का प्रयास करना[2] योग ग्रंथों में अभ्यास से प्राप्त दिव्य अनुभवों के संबंध में पढ़कर अपने अभ्यास काल में वैसा अनुभव न होने पर भी वैसे अनुभव करना भ्रांति दर्शन कहलाता है।
8. **अलब्ध भूमि कत्व–** पूर्व संस्कार के कारण साधक के मार्ग में कभी न कभीयह स्थिति आती है। जब कुछ प्राप्तकर लेने पर भी चित्त थोड़ी देर के लिए भी उसमें टिक नहीं पाता। यह भी एक अति सशक्त अंतराय है।
9. **अनवास्थितत्व–** कदाचित उसमें थोडी देर के लिए चित्त टिक भी जाये, तो अधिक देर तक स्थिर न रहकर चंचल बना ही रहे ऐसा योगाभ्यास का बाधक यह अंतराय है।

विक्षेप सहभुव

दुःख दौर्मनस्याऽग्ड. में जयत्वश्वास प्रश्वास विक्षेप सहभुव।

अर्थात् दुःख, दौर्मनस्थ, अंगमेजयत्व श्वाज प्रश्वास यह विक्षेंप सहभुव है।

1. दुःख– शारीरिक और मानसिक यह दःख के प्रकार है। शारीरिक निष्ठ योगजन्य दुःख तथा मानसिक में काम क्रोधादि दुःख समावेश होता है।

2. दौर्मनस्थ– अभिलाषित विषयक इच्छा का व्याघात होने से चित्त में जो क्षोभ होता है। वह दौर्मनस्थ कहा जाता है। यह एक प्रकार की अतितिव्र हताश अवस्था होती है।

3. अंगमेजसत्व– शरीर के अंगों में कंपन होना अंगमेलयत्व है। चित्त की स्थिति बिगड़ ने पर शरीर के अंग कॉपने लगते है।

4. श्वासप्रश्वास– चित्त को विक्षिप्त अवस्था में भावना के उद्रेक में श्वास लेते समय तथा प्रश्वास छोडते समय जो अनियमित या अस्थिर गति होती है। वह श्वास प्रश्वास है।

चित्त प्रसादन

विविध विक्षेपों से विक्षिप्त चित्त में जिस प्रकार अंतराय उत्पन्न होते है। उससे अभ्यास में बहुत अधिक अंतराय उत्पन्न होते है। अतः उन विक्षेपों को दूर करने के लिए चित्त प्रसादन या चित्त की प्रसन्नता का अभ्यास करना चाहिए।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणो सुख दुःख पुण्या पुण्य
विषयानां भावना स्थिर चित्त प्रसादनम्।

अर्थात् सुखी दुःखी पुण्याशाली तथा पापी यह चार प्रकार के मनुष्य होते है। सुखी को देखकर मैत्री की भावना करना, दुःखी को देखकर, दया की भावना करना, पुण्यशाली को देखकर प्रसन्नता की भावना करना तथा पापी को देखकर उपेक्षा की भावना करना इनमें चित्त में प्रसन्नता होती है।

दूसरे प्रकार से प्राण को झटके के साथ बाहर छोड़ना या विशिष्ट प्रकार से रोककर रखना। इस प्रकार छोड़ने या नियंत्रित श्वसन से भी चित्त प्रसादन होता है। अभ्यास

और वैराग्य का मार्ग अपना कर चित्त में प्रसन्नता लायी जा सकती है।

चित्त शुद्धि के उपाय

महर्षि पतंजलि ने व्यक्तिगत वैभिन्य को दृष्टिगत रखते हुए व्यक्ति के स्तर के अनुकूल चितशुद्धि के उपाय बताये है। उनके अनुसार चित को योगसाधना योग्य सिंद्ध करने के तीन उपाय है। अभ्यास–वैराग्य, क्रिया योग एवं अष्टांग–योग।

सूत्रकार ने सामान्य अथवा नारकीय चित्त वाले विषय भोगी मनुष्यों के लिए अष्टांग – योग मध्यम अथवा युंजान योगिया के लिए क्रियायोग तथा उत्तम योगियों के लिए अभ्यास – वैराग्य का उपाय निर्दिष्ट किया है। क्योंकि जिन साधकों ने पूर्व जन्मों में योगभ्यास प्रारम्भ कर दिया था और जिन्होंने बहिरंग साधन सिद्ध कर लिये है अब उन्हें उन साधनों को पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। मध्यम अधिकारी वे है जो इस जन्म में योग–साधना में लगे हुए है। उनके लिए क्रियायोग का निर्देश है। किन्तु वे जिज्ञासु जो गृहस्थ हैं एवं योगसाधना प्रारम्भ करना चाहतें है तथा विषय– भोग के अभ्यस्त है। उनके चित्त को स्थिर करने के लिए अष्टांग– योग का उपाय बताया है।

1. अभ्यास वैराग्य

पतंजलि ने स्थिति के निमित्त किए गए प्रयत्न को अभ्यास कहा है।[1] प्रयासपूर्वक पुनः पुनः चिन्तन करना अभ्यास है। भाष्यकार व्यास ने अभ्यास को उत्साह एवं वीर्य के अर्थ में परिभाषित किया है।[2] अतः उत्साह, साहस एवं धैर्यपूर्वक अभ्यात्म का चित्तन करना अभ्यास है। मानसिक वृत्तियों का निरोध एक जन्मसिद्ध नही है। उसेस जन्म जन्मान्तरोपर्यन्त उत्साह एवं वीर्य के साथ धैर्यपूर्वक करना चाहिए। ऐसा ही साधक ईश्वर की कृपा से अभीष्ट फल करता है। इससे चित स्थिरता को प्राप्त होता हैं अभ्यास के दृढ़ हो जाने से शीघ्र विषय वासनाओं से अभिभूत नहीं होता।

विषयों के प्रति चित का आकर्षण राग है। जब साधक सुखानुशयी राग की वास्तविकता एवं सारहीनता से परिचित हो जाता है। तब उसका मोह कम होता है। वह विभिन्न विषयों का उपयोग करते हुए भी उनके प्रति अपेक्षा का भीव रखने लगता है। विषयों के प्रति द्वेष शून्य उपेक्षा– बुद्धि वैराग्य है वैराग्य दो प्रकार को हैः प्रारम्भिक अवस्था से अमम्प्रज्ञात समाधि पर्यन्त लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति जो वैराग्य है। वह अपर वैराग्य कहलाता है। असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाने पर प्राप्त होने वाली विवेक ख्याति विषयक के प्रति राग द्वेष न रहना पर वैराग्य है।[2]

2. क्रियायोग

प्रारभिक अवस्था से ही योग साधना में रात रहने वाले साधक को विषय– वासनाएं निरन्तर व्यथित करती रहती है। ऐसे साधकों के लिए क्रियायोग का उपाय बताया गया है। क्रियायोग के तीन साधन हैः तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर– प्राणिधान।[3]

अ) तपः जिस प्रकार अग्नि में तपाने से सोने के सभी मूल नष्ट हो जाते है। उसी प्रकार तप द्वारा शरीर को सुख दुःख भूख प्यास आदि द्वन्द्व सहने योग्य बनाने हेतु शारीरिक साधना तप है। इस प्रकार से किया गया तप सम्पूर्ण क्लेश–कर्मो के नष्ट जाने से शरीर व मन को शुद्ध व निर्मल बनाता है।

ब) स्वाध्यायः वेद, उपनिषद् आदि मोक्षदायक शास्त्रों का अध्ययन एवं स्मरण स्वाध्याय है। गायत्री मंत्रादि का जाप एवं अध्यायत्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन स्वाध्याय है।

स) ईश्वर–प्राणिधानः ईश्वर के प्रति विशेष भक्ति तथा शरीर, मन, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से होने वाले सारे कर्म तथा कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। यह उन साधको के लिए है जिन्होंने तप से चित्त को नियन्त्रित कर लिया है व स्वाध्याय से ईश्वर के माहात्म्य को जान लिया है।

क्रियायोग चित्त की अन्तर्मुखी धारा को समाधि में प्रवृत्त कराता है। तथा उदार अवस्था में वर्तमान क्लोशों को क्षीण अवस्था में लाता है। क्रियायोग सिद्ध हो जाने पर साधक अभ्यास, वैराग्य का अधिकारी हो जाता है।

3. अष्टांग

योग : साधारण अथवा अधम नारकीय अधिकारियों के लिए पंतजलि ने अष्टांग – योग की चर्चा की है। यह योग का प्रवेश द्वार है। इस प्रकार कें अधिकारी द्वारा इससे पूर्व कभी योग साधना नहीं की गई है। अतः उसका तन मन व चित्त सभी अशुद्व है। तन मन के परिष्कार एवं शुद्धि हेतु अष्टांग का उपाय सूत्राकार ने बताया है। इन अष्ट अंगों की सिद्धि होने पर पूर्वोक्त दो उपायों (अभ्यास वैराग्य तथा क्रियायोग) के साधन की आवश्यकता नहीं रहती। जो मध्यम मार्गी साधक है। उनके लिए अभ्यास वैराग्य की सिद्वि क्रियायोग के पश्चात् आवश्यक है। इसी कारण अष्टांग की महिमा उपनिषद, पुराण गीता आदि सभी में की गई है। ये अष्टांग है : यम, नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।

(1) यमः कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम को 'यम' कहते है। यम पांच हैः

(अ) सत्यः मन और वचन का यथार्थ होना अर्थात् जैसा देखा गया था, अनुमान किया हो उसी के समान मन तथा वचन
का होना।

(स) अस्तेय : परद्रव्य का अपहरण न करना और न उसकी इच्छा करना।

(द) ब्रह्मचर्य : गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम करना।

(य) अपरिग्रह : विषयों के अर्जन, रक्षण आदि दोष से उन्हे स्वीकार न करना।

(2) नियमः जो शुभ कार्यो में प्रवृत्त कराते है। वे 'नियम' कहलाते हैं। 'प्रवृत्तिमूलक नियम' पांच प्रकार के है।[2]

(अ) शौचः अभ्यन्तर और बाह्म शुद्धि। आभ्यन्तर शौच चित्त के मलों का अच्छी तरह से धो देना है। बाहरी शुद्धि मृत्तिका
जल से तथा पवित्र भोजन के कराने से होती है।

(ब) सन्तोषः उचित प्रयास से जो कुछ प्राप्त हो जाए उससे ही सन्तुष्ट रहना सन्तोष के अभावस में मन में शान्ति
असम्भव है।

(स) तपः सर्दी गर्मी आदि में रहने का अभ्यास तथा कठिन व्रतों का पालन करना इससे शरीर समस्त प्रकार के कष्ठो

को सहन करने के योग्य बन जाता है।
(द) स्वाध्यायः नियमपूर्वक धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना।
(य) ईश्वर–प्रणिधानः ईश्वर को भक्तिपूर्वक सब कर्म समर्पण करना।

(3) आसनः जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सकें, उसे 'आसन' कहते है। जितने प्रकार की जीव जातियां
है उतने ही प्रकार के आसन है।[1] कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन 'हठयोग प्रदीपिका' आदि हठयोग के ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है। इन आसनों के अभ्यास करने से स्वाभाविक चंचलता का परित्याग कर एकाग्रता प्राप्त करता है।

(4) प्राणायामः श्वास–प्रश्वास की अत्यन्त स्वाभाविक गति के नियन्त्रण को प्राणायाम कहते हैं। शास्त्रीय शब्दों में श्वास–प्रश्वास
का गतिविच्छेद 'प्राणायाम' है। इस क्रिया के तीन अंग होते है।
(अ) पूरक : पूरा श्वास अन्दर खीचना,
(ब) कुम्भकः श्वास को भीतर रोकना,
(स) रेचक : नियमित विधि से श्वास को शनैः–शनैः छोड़ना। रेचक से शरीर तथा मन मे दृढ़ता आती है। इससे चित्त
एकाग्र होता है।

(5) प्रत्याहारः जब विभिन्न इन्द्रियां अपने बाह्म विषयों से हटकर चित्त के समान निरूद्ध हो जाती है। जब इसे 'प्रत्याहार' कहते
हैं अर्थात बहिर्मुबृखवृत्ति इन्द्रिया बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तब उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता हे। इसके परिणामस्वरूप संसार में रहते हुए भी जीव में मन पर सांसारिक जीवों का प्रभाव नहीं पड़ता।
यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बहिरंग साधन कहे जाते है। अन्तिम तीनः धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग साधन कहलाते है। ये योग से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है।

(6) धारणाः चित को किसी स्थान में स्थिर कर देना 'धारणा' हैं जैसे : नाभिचक्र में, हृदयकमल में अथवा किसी बाह्य वस्तु में ही
चित को स्थिर करना 'धारणा' है।

(7) ध्यानः धारण के देश विदेश में जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप सें होने लगता है, तब उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान
की अवस्था में निरन्तर रूप से ध्येय का मनन किया जाता है। विषय का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान योगी के मन में ध्येय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान के द्वारा योगी मन में ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

(8) समाधिः विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना। जहां पर ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है
और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वह 'समाधि' कही जाती है। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येय तथा ध्याता अलग–अलग प्रतीत होते है, परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्याता और ध्येय पदार्थ की एकता हो जाती है। धारणादि अन्तिम तीनों अंगो का सामूहिक नाम 'संयम' है। संयम के जीतने का फल : विवेकख्याति का प्रकाश है।

समाधि का स्वरूप

संपूर्ण योगदर्शन का लक्ष्य समाधि अवस्था को प्राप्त करना है। समाधि योग का आठवां अंग है। ध्यान की पूर्णता होने पर स्थिति समाधि ही है।
समाधि का स्वरूप पंतजलि बता रहे है–

> तदैवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। ;यो.सू. 3/3द्ध

अर्थात् वही ध्यान जब ध्येयमात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्येयाकार रूप से रहित सा हो जाता है। तब उसे समाधि कहा जाता है।
भाव यह है कि ध्यानकाल में चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति का विषय जिसे क्रमशः ध्याता, ध्यान, और ध्येय कहा जाता है। इनका भान होता है। किन्तु जब वही ध्यान अभ्यास करते समय अपनी ध्यानाकारता का त्याग करके केवल ध्येय से स्थित हुआ प्रतिभासित होता है। तब यह समाधि कहा जाता है। जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक जल में रहता है हुआ भी जलरूप होने से नमक जल के रूप में प्रतिभसित न होकर जलरूप से ही प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार समाधिकाल में ध्यान रहता तो है, किन्तु वह ध्येयरूप से भासित नहीं होता अपितु ध्येयरूप से भासित होता है। यदि समाधिकाल में ध्यान न हो तो ध्येय का प्रकाश कौन करेगा। इसलिए सूत्रकार ने 'स्वरूपशून्यमिव' ऐसा कहा है। इसका अर्थ है कि समाधि के काल में ध्यान विद्यमान रहता है, किन्तु उसकी प्रतिति न होने से स्वरूपशून्य सा होता है।
समाधि का समय धारणा और ध्यान से अधिक होता है। धारणा की अवधि पांच नाडी (एक नाडी 24 मिनट) ध्यान की अवधि साठ नाडी तथा समाधि की अवधि 12 दिन की होती है। स्कंदपुराण में कहा गया है

> धारणा पंचनाडीका ध्यानंस्यात्षष्टिनाडिकम्।
> दिनद्वादशककेनैव समाधिरभिधीयते।।

समाधि के द्वारा सांसरिक जीवन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। समाधि के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।
राजयोग समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य, परमपद्, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, जीवनमुक्त, सहजा तथा तुर्या ये सब शब्द समाधि के ही द्योतक है।

संदर्भ सूची

1. भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम 1993, राजकुमारी पान्डेय राधा पब्लिकेशन–नई दिल्ली
2. योग दपर्ण– स्वामी दिव्यानंद सरस्वती
3. हमारी संस्कृति इतिहास के कीर्ति स्तंभ–पं. श्री रामशर्मा आचार्य वाड्मय
4. महापुरूषो के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग 1–पं. श्री रामशर्मा आचार्य वाड्मय
5. श्री अरविन्द साहित्य दर्शन– श्याम बहादुर शर्मा
6. भारत के सिद्ध संत और योगी– शशांक कुमार